गायनशैली में श्री मद् भागवत का वैशिष्ट्य

डॉ. लायका भाटिया
असिस्टेंट प्रोफैसर
संगीत विभाग ;वादनद्ध
मेहर चंद महाजन डी.ए.वी. कॉलेज
फोर वूमेन, 36–ए, चण्डीगढ़

संक्षेपिका

पुराण भारतीय संस्कृति के साहित्य के महत्वपूर्ण घटक है। पुराण के नाम पर आज एक विशाल साहित्य प्राप्त होता है। पुराण शब्द पुरावृत का द्योतक है। तथा प्राचीन इतिहास का संकेत करता है। जब हम पुराण साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि वैष्णव पुराणों की संख्या अत्यध्कि है जिसमें विष्णु के दश विभिन्न अवतारों पर स्वतन्त्रा रूप से पुराण प्राप्त होते हैं जैसे–कूर्म पुराण, मत्स्य पुराण तथा वराह पुराण आदि। सब पुराण संस्कृत भाषा में रचित है।

भागवत पुराण इन्ही में से एक महत्वपूर्ण पुराण है। इसमें 12 स्कन्ध्, 335 अध्याय तथा 18,000 पद्य हैं। संगीत की दृष्टि से यह पुराण अत्यध्कि महत्वपूर्ण है। यूं तो अग्नि, वायु, हरिवंश आदि पुराणों में संगीत विषयक अनेक संदर्भ प्राप्त होते है तथापि भागवत पुराण स्वयं गेय है। इस पुराण का दशम स्कन्ध् आकार में सबसे बड़ा है। संगीत की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दशम स्कन्ध् में 29–33 यह पांच अध्याय 'रसपंचाध्यायी' के नाम से जाने जाते है। इसमें गीत, अभिनय, वाद्य तथा नृत्य का वर्णन प्राप्त होता है। दशम स्कन्ध् में लगभग 4000 गीत है। रागों का विवरण तथा गान की विद्या का वर्णन इसमें नहीं मिलता। यह पुराण गीत तथा वाद्यों का भावात्मक प्रतीक है। इसमें संगीत की तीनों विधओं गायन, वादन तथा नृत्य का समावेश है। इसके श्लोकों में गायन का अद्भुत वर्णन है, जिसमें शब्द–माधुरी तथा अर्थ–चातुरी अत्यन्त आकर्षित करते है। भागवत पुराण रस तथा माधुर्य का स्त्राोत है।

प्रस्तुत शोध् पत्रा में श्रीमद्भागवत महापुराण में वर्णित गायन शैली को उजागर करने का प्रयास किया गया है। इस शोध् पत्रा को लिखने का उद्देश्य श्रीमद्भागवत पुराण में निहित विभिन्न गायन शैली को दर्शाना है जिनका विकसित रूप वर्तमान समय में दृष्टिगोचर होता है। इस शोध् पत्रा को सम्पूर्ण रूप देने के लिए ऐतिहासिक शोध् प्रविध्ि का प्रयोग किया गया है तथा सामग्री संकलन हेतू माध्यमिक स्त्राोतो द्वारा विभिन्न पुस्तकों से सामग्री एकत्रित की गई है।

भागवत के रासपंचाध्याय में गायन का विवरण सर्वाध्कि मिलता है। रास का गेय रूप भी है। जिसमें नृत्य के साथ गीत, वाद्य भी अभिन्न भाव से युक्त रहे हैं। महाकवि वाणभट्ट के हर्षचरित में हर्ष के जन्मोत्सव पर स्त्रिायों द्वारा रसक पदों के गान और नृत्य किये जाने का उल्लेख प्राप्त है।[1] जिनके साथ अलिंग्यक, वेणु, झल्लरी, तन्त्राी, पटह, अलाबुवीणा तथा काहल आदि अनेक वाद्य मन्द ध्वनि में बजाये गये थे। श्रीमद्भागवत में रास के प्रसंग में श्रीकृष्ण और गोपियों के नृत्य करते हुए उच्च स्वर में गान की चर्चा की गई है–

'श्रीकृष्ण के अंग–स्पर्श से अत्याध्कि हर्षित अत्यन्त रतिमयी और अनेक रागों के कण्ठों वाली गोपियों के उच्च स्वर गान से यह समस्त विश्व व्याप्त हो गया। गोपियां जैसा गा रहीं थीं, उनमें से किसी के अमिश्रित स्वर जाति गान का श्रीकृष्ण ने भी अनुसरण किया और उस गोपी को बहुत मान दिया।'[2]

भागवत की इन पंक्तियों की टीका में विद्वान् टीकाकारों ने संगीतशास्त्रा की गान–सम्बन्धी विशेषताओं को उ(ृत किया है।[3] स्वर और जाति में शु(, ऐसे उच्च स्वर में गोपियों ने यह गान किया था।[4] यहाँ 'ध्रुव' ताल अथवा ध्रुप पद जैसे तत्कालीन गान का भी संकेत किया गया है।[5] इस सन्दर्भ में

यह द्रष्टव्य है कि रास के मूल अर्थ में जो 'चिल्लाहट' है। वह यहाँ उच्च गान से अभिव्यक्त है। गोपियों द्वारा रागों के गानों की कुशलता को स्पष्ट रूप से यहाँ स्वीकृति प्राप्त हुई है।[6]

श्री सनातन गोस्वामी ने कृष्ण के रास–गान को और उनसे भी अध्कि ऊँचे स्वर में गोपियों द्वारा किये गये रास–गान को पराशर द्वारा की गई प्रशंसा के निम्नलिखित श्लोक से सम्पुष्ट भी किया है–

रास गेयं जगौ कृष्णो यावत्ता त्यावतध्वनिः।
साध्ुकृष्णेति कृष्णेति तावत्ता द्विगुणं जगुः।।[7]

छलिक ;छालिक्यद्ध

'छलिक'अपनी स्वरूप–विद्या में एक अभिनय प्रकार है, जिसको कोशग्रन्थों में गान–भेद एवं रूपक–भेद माना गया है।[8]हरिवंश पुराण में इसे बहुसन्निधन में हुआ एक गेय गान्ध्र्व बताया है।[9] गान्ध्र्व में पद–वस्तु स्वरतालानुभावित होती है।[10] हरिवंश का छालिक्य–वर्णन स्वरतालानुरूप पदों की गेयात्मकता एवं आसारित आदि क्रियाओं से युक्त अभिनयतत्त्व की समुचित व्यवस्था का उद्घाटन करता है। यहाँ नारद षट्ग्राम वीणा बजाते हैं, वंशीवादक श्रीकृष्ण नृत्य का प्रदर्शन करते हैं, अर्जुन मृदंग एवं अन्य अप्सराएँ नानाविध् वाद्य समायोजित करती हैं, रम्भ अभिनय की अर्थवत्ता को अपने कला–प्रदर्शन द्वारा सार्थक करती है, और इस समारोह में उर्वशी, हेमा, मित्राकेशी, तिलोत्तमा, मेनका आदि अनेक अप्सराओं ने भाग लेकर उसे सफल बनाया है। हरिवंश का यह छालिक्य गान्ध्र्व अपने सामूहिक समायोजन में गीत–नृत्य–वाद्य एवं अभिनय का समिश्र रूप समुपस्थित करता है।[11] इन बृहद् आयोजनों में बाल–वृ(सभी भाग लेते थे और इनका प्रदर्शन पुनजन्मादि लोकोत्सवों में किया जाता था।[12] खिल हरिवंश के अनुसार यह छालिक्य शुभावह, वृ(िकर, प्रशस्त एवं मंगल और यश का प्रदाता है।[13]

महाकवि कालिदास के मालविकाग्निमित्राम् में भी छलिक नामक नाट्य का उल्लेख हुआ है।[14] यहाँ मालविका छलिक प्रयोग के लिये प×चा⏱ादि के अभिनय की शिक्षा ग्रहण करती है। प×चा⏱ाभिनय में चित्त, अक्षि, भ्रू, हस्त तथा पाद आदि का अभिनय मान्य रहा है।[15] मालविकाग्निमित्राम् के टीकाकार काटयवेम ने पंचा⏱ाभिनय को प्रेरण नृत्य के पर्याय रूप में स्वीकार करते हुए उसके घर्घर, विषम, भावाश्रय, कविचार तथा गीत–पाँच अ⏱ों का उल्लेख किया है।[16] जिसके अनुसार छलिक में तालानुरूप पद–संचलन, नानाविध् करण एवं उत्प्लुतियों की व्यवस्था, गान एवं उसके नृत्याभिनय की सहज समाहिति हो जाती है। डॉ. कपिला वात्स्यायन ने भी इसे चतुष्पदियों पर आधरित अभिनय प्रधन नृत्य के रूप में स्वीकार किया है।[17] कालिदासीय ग्रन्थों में यद्यपि पंचा⏱ाभिनय का कोई विस्तृत विवरण उपलब्ध् नहीं है, तथापि मध्यलय पर निर्मित चतुष्पदी पर प्रदर्शित छलिक[18] नामक दुष्प्रयोजन अभिनय का शब्दचित्रा ने अपने मालविकाग्निमित्राम् में इस प्रकार अंकित है–

अ⏱रन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायौनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्यानुवृत्तौ
भावो भावंनुदति विषयाद्रागबन्ध्ः स एव।।[19]

छलिक अभिनय के उपर्युक्त सन्दर्भ में गीत का सम्पूर्ण अर्थ अ⏱विक्षेपण के माध्यम से मुखरित होता भासित हो रहा है। नृत्य में पदगति और उनका न्यास लय की अनुकूलता से सम्पुष्ट है एवं नृत्य–वस्तु के रस से उसका पूर्ण तादात्म्य है। इस नृत्याभिन की भूमिका में 'शाखा'[20] 'नामक आ⏱िक अभिनय का दिग्दर्शन अत्यध्कि सुकोमल बन पड़ा है। अभिनय वैविध्य के द्वारा नानाविध् संचारियों के उन्मेष होने पर भी नृत्य में रागात्मिकता का निर्वाह इस प्रदर्शन की विशेषता है।

छलिक की उत्पत्ति एवं परम्परा से सम्ब(एक विवरण छान्दोग्य उपनिषद् में भी प्राप्त है। इसके अनुसार महर्षि अंगीरस से सामगान की शिक्षा प्राप्त कर श्रीकृष्ण ने छलिक नामक इस गानविध्ि को

गोपियों के साथ नृत्य में प्रयुक्त किया था।[21] कथासरित्सागर में रम्भा द्वारा स्वर्ग में चलित–नृत्य के प्रदर्शन का उल्लेख हुआ है।[22] दण्डी जैसे लक्षणग्रन्थकारों की दृष्टि भी छलिक के प्रचलन से परिचित थी। उन्होंने प्रेक्षा प्रबन्धें में छलिक का उल्लेख किया है।[23] भोज में इसे श्रृं⃝ार और रौद्र तथा वीररस प्रधन नृत्य बताया है। इस प्रकार छलिक में लास्य एवं ताण्डव दोनों के तत्त्व समाहित मान्य रहे हैं।[24] एक प्राचीन परिभाषा के अनुसार 'छलिक' रति, क्रोध एवं उत्साह प्रधन नृत्य है।[25] छलिक छप्रना वृत्तम' के अनुसार कुछ विद्वानों ने वाद्य विशेष एवं उसके द्वारा नृत्य में छल से होने वाले ध्वन्यावरोध का आशय लिया है,[26] तो भक्तिपथ के आचार्य इस छालिक्य में राध द्वारा छलना से किया गया नृत्य अवसर का आलि⃝न मानते हैं।[27]

वस्तुतः 'चलित', 'छलिक' अथवा 'छालिक्य' को एक प्राचीन नृत्य–प्रकार ही मानना चाहिए, जिसका नामकरण उसके साथ गेय गीत के आधर पर हुआ प्रतीत होता है। ध्मानुप्राणित लौकिक व्यवहार की भारतीय परम्परा ने 'चलित' नामक गीतों का उपयोग जैन–आगमों के प्रचार–प्रसार में किया था।[28]

अपने प्राचीन स्वरूप में छालिक्य रासनृत्य की पूर्व–पीठिका है, परन्तु हरिवंश के वर्णन के आधर पर यह कहा जा सकता है कि इसमें रासनृत्य की भाँति एक नायक ;कृष्णद्ध एवं अनेक नर्तकियों का विधन न होकर अनेक नायक नायिकाओं द्वारा नृत्य, गीत, वादित्रा एवं अभिनय की समवेत अभिव्यक्ति होती थी। हरिवंश में 'छालिक्य' और 'रास' एक रस परिलक्षित होते हैं। सम्भवतः रास में छालिक्य की विशेषताओं के समाविष्ट हो जाने के कारण छालिक्य अथवा छलिक की पृथक् सत्ता परवर्तीकाल में स्थिर नहीं रह सकी है।

चर्चरी

'चर्चरी' चर्च धतु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है– करतल–ध्वनि, गीति भेद, तालभेद, वर्ण–वृत्त भेद एवं हर्षक्रीड़ा आदि।[29] अपने इस अर्थ में 'र्चचरी का सम्बन्ध प्राकृत के 'चच्चर', शब्द से 'चौरट्टा', चौटुं अथवा 'चौक' आदि शब्दों से माना गया है।[30] प्रतीत होता है, चौराहा अथवा चौंक 'चर्चरी' के समूह गान का स्थान रहा है। 'सुपासनाहचरिय' के अनुसार वाराणसी 'चर्चरी' गायिकाओं की नगरी थी।[31] ध्नेश्वरसूरी ने चर्चरी–गायन का स्पष्ट उल्लेख किया है।[32] यह गान निम्न श्रेणी की गायक टोलियों द्वारा वसन्त काल में गाया जाता था, ऐसा भी कतिपय सन्दर्भों से सम्पुष्ट होता है।[33] ध्नपाल कृत 'अभिसयत्त–कहा' में चर्चरियों के द्वारा घर–घर में होने वाले कौतूहल को भी अभिव्यंजित किया गया है।[34] आठवीं शती में काशमीर नरेश जयापीड़ के मन्त्राी दामोदर गुप्त कृत 'कुट्टनीमतम्' ग्रन्थ में भी वसन्तोत्सवों पर होने वाले चर्चरी गान और नृत्य के उल्लेख प्राप्त है।[35] वस्तुतः 'चर्चरी' को वसन्तकालीन गेय रचना, उसकी विशिष्ट लयतालानुरूपता तथा संगीतमयता एवं वर्णवृत्त विशेष की स्वरूपगत अभिव्यक्ति में सहज स्वीकार किया जाता रहा है, जिसकी विकासमान रेखाएँ पृथक्–पृथक् होते हुए भी अपनी एक सायुज्य प्रतिष्ठा कर पायी हैं। संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के कोश आदि ग्रन्थों में उपलब्ध चर्चरी विषयक संकेत हमारी उपर्युक्त धरणा को सम्पुष्ट करते हैं।[36]

वर्णवृत्त विशेष के रूप में चतुर कल्लिनाथ ने चर्चरी छन्द की परिभाषा इस प्रकार दी है–

'यस्यां चर्च्चयां षोडश मात्राा वहवो{ड्.घ्रयः स्युः।

तत्रा द्वौ द्वौ पादौ प्रासयुतौ भवतः। चन्चरी च्छन्दसेति।[37]

षोडश मात्राात्मक बहुपादयुक्त चर्चरी छन्द अपने दो–दो पादों में अनुप्रास से संयुक्त माना गया है। इस छन्द की निबन्ध्ना प्राकृत आदि देशी भाषा में की जाती है। इसका गेयरूप वसन्तोत्सवों में सुना जाता है। यथा–

षोडश मात्राा बहवः पादाः तेषु द्वौ द्वौ पादावनुप्रयास संयुक्तौ सा चच्चरी।

प्राकृतैः देशभाषोनिबै(ः पदैः कृताऋ वसन्तोत्सवे गेया।

मतान्तरमाह–चच्रीति।[38]

संगीतरत्नाकार शा⏲देव ने स्वयं चर्चरी को प्राकृत पद माना है।[39] चर्चरी का सम्बन्ध सम्भवतः लोक शैली के प्राकृत छन्दों से रहा प्रतीत होता है। महाकवि कालिदास कृत 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक में अपभ्रंश के अनेक चर्चरी–पद उपलब्ध है। चर्चरी एवं द्विपदी छन्छों में पर्याप्त अनुरूपता विद्यमान थी, इसका अनुमान 'रत्नावलीनाटिका' में उ(ृत विदूषक के उस कथन से किया जा सकता है, जिसके अन्तर्गत चोटियों के द्विपदी खण्ड गान को भ्रमवश चर्चरी समझा गया है।[40] 'कर्पूरमंजरी' में चर्चरी का तात्पर्य एक ऐसी गेय रचना से रहा है। जिसके गायन में नतर्कियों द्वारा अत्यन्त भाव विभोर अवस्था में तीव्र स्वर एवं द्रुत अथवा मध्यलय के साथ नृत्य प्रदर्शन भी किया जाता था।[41]

संगीतरत्नाकर के आधर पर चर्चरी को एक ऐसी संगीत–रचना भी माना गया है, जो अपने आदिम स्वरूप में एक तालविशेष के रूप में अधिष्ठित थी।[42] इस ताल–विशेष की परिभाषा 'विरामान्तद्रुतद्वान्द्वान्यष्टौ लघु च चर्चरी' की गयी है।[43] विराम ;अणुद्रुतद्ध, द्रुत और लघु का मान क्रमशः चौथाई, आध और एकमात्रा माना गया है। इस व्यवस्था के अनुसार चर्चरी ताल की मात्राओं का योग ग्यारह मात्रा काल के बराबर होता है।[44] इससे मिलती–जुलती परिभाषाएँ आचार्य वेम तथा रंगनाथ ने भी देशी ताल के सन्दर्भ में की है।[45] संस्कृत में चर्चरी शब्द का अर्थ हाथ से ताल की ध्वनि करना है।[46] बहुत सम्भव है र्चचरी के ताल स्वरूप में इसी अर्थ की विस्तारणा हुई हो, जिसे अपने नृत्य स्वरूप में रासताल, वर्णताल, क्रीड़ाताल एवं आदिताल का समानर्ध्मी भी समझा जाने लगा था। संगीतरत्नाकर के अनुसार आदि ताल ही लोक में रासताल के नाम से जाना जाता था।[47] आचार्य बेद रासताल को स्पष्ट रूप से चर्चरी ताल का स्थानापन्न मानते ही है। इनके अनुसार 'तेतिगिध' शब्दों पर रासताल अथवा चर्चरी ताल में नटों द्वारा किया गया चतुरावर्तन–नर्तन चर्चरी–नर्तन कहा गया है।[48] यही कारण है कि जब चर्चरी–ताल का समायोग पद–संचरण की क्रिया विशेष में सम्पन्न हुआ, तब इसे चर्चरी नृत्य–विशेष के रूप में अभिहित किया गया। आचार्य लक्षमण के नाम से उ(ृत भरतकोश की पंक्ति चर्चरी नृत्य के मण्डलान्तर्गत हुए पद वीर, रौद्र एवं श्रृगांर रसों के परिपाक की विशेषता को भी अभिव्यजिंत करती है।[49]

आचार्य वेद ने चर्चरी–नर्तन की जो परिभाषा प्रस्तुत की है, उससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि चर्चरी नृत्य एक मण्डलाकृति नृत्य था और उसमें रासक के क्रम से नर्तकियाँ विनिवेशित की जाती थीं। जो वर्णतालान्वित वाद्यों पर नृत्य प्रस्तुत करती थीं।[50] चर्चरी नृत्य में जहाँ चर्चरी ताल के साथ रासताल एवं वर्णताल का समायोजन विहित माना गया है, वहाँ उसके स्थानापन्न रूप में क्रीड़ाताल को भी स्वीकृत किया गया है।[51] शा⏲देव ने चर्चरी की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा है कि चर्चरी में हिन्डोल राग और चर्चरी ताल की विशेषता रहती है। इसकी गेय वस्तु सोलह मात्रा एवं दो–दो पंक्तियों के अनेक चरणों से युक्त अनुप्रास सम्पन्न प्राकृत रचना होती है। इसका प्रस्तुतीकरण बसन्तोत्सवों पर किया जाता है।

ब्रजभाषा के रास–साहित्य में 'चर्चरी' शब्द अपने 'चरचरी' चा×चरि' या चा×चर आदि अनेकविध रूपों में गीत, नृत्य एवं ताल–विशेष का पर्याय बनकर प्रयुक्त हुआ है।[52] होली के अवसर पर ब्रज की नवेलियाँ ढोलक की ताल पर सामूहिक रूप से चा×चरि का गान और नृत्य करती है।[53] उत्तर भारत में ब्रज, बुन्देखण्ड, मध्यप्रदेश और हिमाचल प्रदेश के क्षेत्राों में चा×चरि नृत्य का व्यापक प्रचार है।[54] रासलीलाओं के म×चीय प्रस्तुतीकरण में रासधरी आज भी चर्चरी–नृत्य का प्रदर्शन करते हैं। करहला के स्वामी लाड़लीशरणजी की मान्यता के अनुसार झपताल में किये गये चर्चरी के इन नृत्यों में भाव प्रदर्शन का अतिशय कौशल विद्यमान रहता है। नृत्य की प्रत्येक ताल पर पृथक्–पृथक् नृत्य मुद्राओं द्वारा भावाभिव्य×जन करना ही चर्चरी नृत्य का प्रधन उद्देश्य होता है। रास के संगीत में चर्चरी–प्रदर्शना भावुक भक्तों को रसमुग्ध करने में पूर्णतः सक्षम है।

फाग

'फाग' अथवा 'फागु' शब्द संस्कृत 'फल्गु' एवं प्राकृत 'फग्गु'– 'फागु' शब्द का विकसित रूप है, जिसका अर्थ वसन्तोत्सव माना गया है।[55] कालान्तर में वसन्त)तु के पर्याय 'फाग' शब्द का सम्बन्ध उस रचना विशेष से भी रहा प्रतीत होता है, जिसमें इस)तु का समस्त वैभव उल्लसित होता था।[56] 'वसन्तविलास' के सम्पादक श्री कान्तिलाल बी. व्यास की सम्मति में इसी कारण इस रचना विशेष को भी 'फाग' संज्ञा से अभिहित किया गया है।[57] पद, आख्यान वार्ता आदि साहित्य की विविध विधओं की भाँति 'फागु' को भी डॉ. साडेसरा साहित्य के एक प्रकार विशेष के रूप में स्वीकार करते हैं।[58] इन फागु गीतियों की विषय वस्तु श्रृं①ाररसोचित वर्णन से समन्वित होती है।[59] अपने श्रृं①ार प्रधन वासन्तिक परिधन के कारण ही गुणचन्द्र सूरि ने साहित्य की इस विध को 'वसन्त–फागु' नाम से अभिहित किया गया था।[60] श्री अगरचन्द्र नाहता ने भी ऐसी ही रचना का 'फागु' माना है, जिसमें वसन्त अपने सम्पूर्ण वैभव से उल्लसित होता है एवं वह इस)तु में गेय होती है।[61] प्राचीन–फागु–संग्रह एवं प्राचीन–गुर्जर –काव्य– संग्रह जैसी सम्पादित रचनाओं के आधर पर यह कहा जा सकता है कि ये फागु रचनाएँ वासन्ती–काव्य के रूप में छन्द विशेष को लेकर लिखी जाती थीं।[62] ये सभी रचनाएँ अपने आयाम में संगीत प्रधन होती थीं एवं उनका उपयोग क्रीड़ा के लिये होता था। यह क्रीड़ा भी अभिनय से पूर्ण थी।[63] इन रचनाओं के गायन में नृत्य–प्रदर्शन का भी उचित आयोजन सम्पन्न होता था और इनके प्रस्तुतीकरण का समय लगभग फाल्गुन अथवा चैत्रा मास माना जाता था।[64] फागु की यह गेय परम्परा अपने स्वरूप में नृत्याभिनय से संयुक्त होकर वस्न्तोत्सव की लोकर्ध्मी परम्परा रही है। अतः इस दृष्टि से रास और फागु की शिल्प मूलक विशेषताएँ लगभग समान ही दिखाई देती हैं।[65] डॉ. के. एम. मुंशी भी यह मानते हैं कि वसन्त–वैभव से उल्लसित फाल्गुन में गेय रास–रचनाएँ ही 'फागु' नाम से प्रख्यात हुई हैं।[66] नृत्य अभिनय से संयुक्त फागु की एक परम्परा अभिनय की न्यूनता के कारण पूर्णतः गेय काव्य ही बनकर रह गयीऋ परन्तु रासक के मसृण स्वरूप को लेकर विकसित होने वाली परम्परा में नृत्याभिनय सर्वदा गृहीत रहा और अपने वृहद् आयाम में यह फागु रचनाओं को भी संग्रथित करती रहा।

रासक एवं फागु परम्पराएँ अपनी विकास यात्राा में स्वरूपगत साम्य के साथ–साथ विषय–वस्तु की समानता को लेकर भी अग्रसर हुई हैं। 'वसन्तविलासफागु' की गोपी विरह–वर्णन के लिए विशेष द्रष्टव्य है। केशवकृत 'श्रीकृष्ण–लीलाकाव्य' में फाग खेलने का वर्णन इस प्रकार हुआ है–

निशिवशि कीधे नारीयेरे, मुरारि सुन्दर श्याम।
एणी परचें फागण खेलीरे, हे मानो पूरी हाम।।[67]

इसी प्रकार डॉ. हरिवल्लभ भयाणी द्वारा सम्पादित 'हरिविलास' फागु में बालकृष्णर की दानलीला का उल्लेख हुआ है। रासस्थली वृन्दावन का वर्णन भी कतिपय फागु ग्रन्थों में उपलब्ध है–

फागुणि पवन हिलाहलई फागु चवर वर नारी है।
सन्देस{उ न परण्यउ वृन्दावन हम झारि हे।।[68]

रास परम्प्रा के समान ही इन फागु रचनाओं के नृत्यमय प्रस्तुतीकरण में झाँझ, पखावज आदि वाद्यों के प्रचलन का उल्लेख मिलता है। प्रेमानन्दकृत रास में ताली बजाकर फाग गायन का वर्णन हुआ है, जिसमें झाँझ और पखावजों के साथ नवेलियाँ नये–नये रागों को गातीं थीं।[69]

संदर्भ सूची :

1. हर्षचरितम्, शंकरकवि विरचित संकेतव्याख्योपेतम्, चतुर्थ उल्लास पृ. 217–218, वाणभट्ट
2. भाú 10/33/9–10
3. भाú 10/33/10 वैष्णवतोषिणीटीका, जीवगोस्वामीकृत।
4. भाú 10/33/10, सारार्थदर्शिनीटीका, श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृत।
5. भाú 10/33/11 भावभावविभाविकाटीका, श्रीरामनारायणकृत।
6. रक्तकण्ठयः नानारागैरनुरञ्जतकण्ठयः– भाú 10/33/19 सारार्थदर्शिनीटीका, श्रीविश्वनाथचक्रवर्तीकृत
7. भाú 10/33/9 बृहत्तोषिणीटीका, श्रीमत्सनातनगोस्वामीकृत
8. वाचस्पत्यम् ;बृहत् संस्कृताभिधनम्द्ध चतुर्भभाग पृ. 2998
9. 'छालिक्यगेयं बहुसन्निधनं यदेव गान्धर्वमुदाहरन्ति– हरिवंशपुराण विष्णुपर्व 89/67
10. नाट्यशास्त्रा 28/8 तथा 32/27, बम्बई संस्करण
11. हरिवंशपुराण विष्णुपर्व 89/68–71
12. हरिवंशपुराण 89/83–87
13. वही 89/76–77
14. कालिदास ग्रन्थावली पृ. 262 ;द्वितीय खण्डद्ध, सम्पादक पं. सीताराम चतुर्वेदी
15. कालिदास ग्रन्थावली, पृ. 266
16. कालिदास के समस्त ग्रन्थ पृ. 10 सम्पादक साने गोडबोले
17. क्लासिकल इण्डियन डांस इन लिटरेचर एण्ड द आर्ट्स पृ. 141–142, डॉ. कपिला वात्स्यायन
18. मालविकाग्निमित्राम् कालिदासग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड पृ. 281
19. वही 2/8 कालिदासग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड पृ. 285
20. नाट्यशास्त्रा 8/14–15, बम्बई संस्करण
21. भारतीय नाट्य–परम्परा और अभिनयदपर्ण पृ. 140, वाचस्पति गैरोला
22. कथासरित्सागर–111 ;111द्ध–20
23. 'लास्यच्छलिकशम्यादि प्रेक्षार्थमितरत्पुनः' –काव्यादर्श 1/39, दण्डिन्
24. उभयात्मकं छलिकम्–श्रृ⏱ारप्रकाश, मैसूर संस्करण पृ. 381–82, भोजकृत
25. 'रति क्रोधेत्साहप्रधनं छलिकं स्मृतम'– भोजाज श्रृं⏱ारप्रकाश पृ. 556, डॉ. वी. राघवन से उ(त
26. भोजान श्रृं⏱ारप्रकाश पृ. 557, डॉ. वी. राघवन
27. भाú 10/33/3–4 विशु(रसदीपिकाटीका
28. बृहत्कल्पभाष्य 1–2564
29. ;कद्ध शब्दस्तोममहानिधि पृ. 171, ;खद्ध संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ, चतुर्थ संस्करण पृ. 436
30. आदिकालीन हिन्दी साहित्य– शोध पृ. 211, डॉ. हरीश
31. सुपासनाहचरिय 23/55, लक्ष्मणगणि
32. प्राकृत सुरसुन्दरीचरिय 3/108, ध्नेश्वरसूरि
33. समराइच्चकहा पृ. 53 तथा 638, हरिभद्र सूरि, सम्पादक हर्मन जेकोबी

34. 'घरि घरि चच्चरि कोऊहलाई' – भविसयत्तकहा पृ. 8–9, ध्नपाल
35. कुट्टनीमतम् ;शम्मलीमतम्द्ध कात्यम श्लोक 886, 904, दामोदर गुप्त
36. ;कद्ध शब्दार्थचिन्तामणि, चतुर्थ भाग भाग पृ. 2902,
;खद्ध शब्दस्तोममहानिध्दि पृ. 171
;गद्ध संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ, चतुर्थ संस्करण पृ. 436
;घद्ध पाइअपद्दमहण्णवो, भाग 2, पृ. 397
37. संगीतरत्नाकर, कलानिध्याख्यतीका, जिल्द 2 पृ. 302/303
38. संगीतरत्नाकर 4/289–91 कलानिध्याख्यटीका
39. 'सा वसन्तोत्सवे गेया चच्री प्राकृतै पदैः'– संगीतरत्नाकर 4/290 शा⏲देव
40. रत्नावली नाटिका प्रथमो{⏲, हर्षदेव
41. कर्पूरम×जरी 4/10–18, राजशेखर
42. भोजाज श्रृ⏲ारप्रकाश पृ. 566, डॉ. वी. राघवन
43. संगीतरत्नाकर 4/292, कलानिध्यारव्यटीका
44. ठुमरी की उत्पत्ति–विकास और शैलियाँ, ;अप्रकाशितद्ध पृ. 136, डॉ. शत्राुघ्न शुक्ल
45. भरतकोश पृ. 203
46. संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ, चतुर्थ संस्करण पं. 436
47. 'लघ्वादितालो लोके{सौ रासः'– संगीतरत्नाकर 5/261, शां⏲देव
48. भरतकोश पृ. 203
49. 'रसत्रायं मण्डलान्त विध्नमिश्रलस्तथाततश्चर्चरिकाह् वये– भरतकोश पृ. 203
50. यद्रासक क्रमेणैव नर्तक्यो विनिवेशिता, वर्णतालान्विते वाद्येवाघमाने{थवादके कुर्वन्ति नर्तनं सैषा चर्चरीति निगद्यते भरतकोश पृ. 203
51. संगीतनत्नाकर 4/291 शा⏲देव
52. ;कद्ध 'विकल औद्यरतान चर्चरी ताल सौ'– हितचौरासी पद 81
;खद्ध 'सूरदास सब चाँचर खेले'– सूरसागर पद 2109
;गद्ध 'चरचरी ताल में तिरप बाँधति बनी'– भक्तकवि व्यासजी पृ. 360
53. कृषक जीवन सम्बन्धी ब्रजभाषा शब्दावली ;द्वितीय खण्डद्ध पृ. 336, डॉ. अम्बाप्रसाद सुमन
54. संगीत ;अप्रैल–मई 1960द्ध पृ. 34, चुन्नीलाल शेष
55. ;कद्ध देशीनाममाला 6/82, हेमचन्द्र
;खद्ध प्राचीन फागु संग्रह पृ. 53–54
;गद्ध संस्कृत शब्दार्थकौस्तुभ, तृतीय संस्करण पृ. 816
56. गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर पृ. 137, के. एम. मुंशी
57. वसन्तविलास, भूमिका पृ. 33, कान्तिलाल वी. व्यास
58. प्राचीन फागु संग्रह पृ. 51
59. आपणा कवियों पृ. 233, के. काशीराम शास्त्राी
60. प्राचीन फागु संग्रह पृ. 55–56
61. नागरी प्राचारिणी पत्रिाका अंक 4, सं. 2011 पृ. 423
62. ;कद्ध शवणि पार्शनाथ फागु, प्रसन्नचन्द्रसूरि, कड़ी 6
;खद्ध प्रथम नेमिनाथ फागु : कड़ी 57 जयशेखरसूरि
63. किवि नाचइ मन रंगि केवि खेलइ तिहि फागे।

किवि वायंति वसंत नामि पर्याि वर रागो।।– पुरुषोत्तम पांचपाण्डव फागु कड़ी 21

[6]4ण ;कद्ध स्थूलिभद्रकोश प्रेमविलासफाग कड़ी, 44 जयवन्तसूरि

;खद्ध कीर्तिरत्नसूरिफागु कड़, 36 ;गद्ध वासुपूज्य मनोरम फागु कड़ी 2

65ण आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध पृ. 40, डॉ. हरीश

66. गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर पृ. 137, के. एम. मुंशी

67. श्रीकृष्णलीलाकाव्य, सर्ग 15, कड़ी 22, केशवास

68. कान्हउबारभास कड़ी 9, प्राचीन फागु संग्रह

69. बाजे झाँझ पखावज ने साहेली रमे फाग। ताली देइ तारूणी गाय नवला रे राग।।
प्रेमान्न्दकृत रास कड़ी 89–91, प्राचीन फागुसंग्रह